* ॐ *

जैन धर्म और मूर्ति पूजा

—:○ अर्थात् ○:—

उपासना रहस्य

लेखक—

श्रीयुत बिरधीलालजी सेठी, कोटा

धर्मात्तमुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन नहि देशिताः किंतु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥
—पात्रकेसरि स्तोत्र ।

प्रकाशक—

ज्ञानचन्द जैन, कोटा

(राजपूताना)

प्रथम बार १०००	दिसम्बर सन् १९२९ ई० वीरनि० संवत् २४५६	मूल्य ≈) प्रति सैं० १०)

* विट्ठलनाथ प्रेस कोटा. *

॥ निवेदन ॥

जैन समाज की प्रचलित उपासना पद्धति अपने उद्देश्य से अत्यन्त गिर गई है और इससे जो २ हानियां होरही हैं वे किसी से छिपी नहीं हैं किन्तु फिर भी हम अंध-विश्वास और रूढ़िवाद के इतने दास बने हुए हैं कि अपनी जाति की हीन अवस्था पर दो २ आंसू बहाकर उसे सुधारने की कोशिश तक नहीं करते। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में जैन धर्मानुसार उपासना के स्वरूप का (जिससे, हमारे विचार से, किसी भी धर्म के मानने वालों को कोई विरोध नहीं होसकता).प्रचलित इत्यादि आडम्बर पूर्ण पूजापद्धति के पक्ष में उठाई जाने वाली युक्तियों का युक्ति-युक्त उत्तर देते हुए, कितना सुन्दर और सर्वाङ्ग पूर्ण विवेचन किया है यह प्रकृत पुस्तक के देखने से ही संबंध रखता है। पाठकों से हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तक को खूब गौर के साथ साद्यंत पढ़ने तथा उस पर पूर्ण विचार करने की अवश्य कृपा करें। केवल विचार करने से ही काम नहीं चलेगा! आवश्यकता इस बात की है कि हम समाज में प्रचलित इस उपासना पद्धति और इसीप्रकार समय के प्रभाव से अपने धर्म में घुसी हुई दूसरी गंदी बातों को, जो भी हमें युक्ति विरुद्ध मालूम पड़ें, अपनी समाज से शीघ्र निकाल फेंकने के लिए प्रयत्नशील होकर प्रत्येक आवश्यक सुधार को कार्य रूप में परिणत कर दिखावें।

आशा है सुधार प्रेमी बन्धु अपनी इस जैन जाति की हीन दशा पर तरस लाकर उसे जैन धर्म के सत्य मार्ग पर लगा देने को कटिबद्ध हो जावेंगे।

ज्ञानचन्द जैन, कोटा

॥ ॐ ॥

जैन धर्म और मूर्ति पूजा

जैन धर्मानुसार इस विश्व की रचना में दो प्रकार की
वस्तुओं का भाग है। एक चेतना लक्षण से युक्त चेतन पदार्थ
अर्थात् जीव (आत्मा) है और दूसरा जीव से विरुद्ध लक्षण
वाला अचेतन पदार्थ अर्थात् अजीव है। * जीव अनंत हैं
अचेतन परमाणुओं का समुदाय है। यह विश्व इन दोनों ही
के आपसी मिलाव का फल स्वरूप है। अनंत काल से यह
जीव अपने ही परिणामों के द्वारा आकर्षित किये हुये अचेतन
पदार्थ के परमाणुओं से लिप्त हुआ इस संसार में तरह २ के सुख
दुःख का अनुभव कर रहा है। इसका कारण यह है कि
ज्ञान, सुख सूक्ष्मता आदि गुण ही इस जीव का स्वभाव है

---

* यद्यपि भिन्न २ मतवालों ने दृष्टि भेद के कारण इन जीव
और अजीव पदार्थों के भेद तथा और लक्षण भिन्न २ प्रकार
के माने हैं किन्तु इस स्थल पर उनमें गहरे घुसने की
आवश्यकता न होने से केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है
कि इन्हीं जीव और अजीव पदार्थों को सांख्य दर्शन में पुरुष
और प्रकृति कहा है और वेदान्त ने ब्रह्म और माया नाम से
व्यवहृत किया है।

और अचेतन पदार्थ के साथ संयोग होने से इसके वास्तविक स्वरूप पर परदा पड़ा हुआ है और इसकी विभाव परिणति हो रही है अर्थात अनंत ज्ञान के स्थान में कुज्ञान और अल्प ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुख के स्थान में क्षणिक सुख और दुःख तथा सूक्ष्मता के स्थान में स्थूलता आई हुई है। ये शरीरादि उपाधियां भी इन अचेतन (कर्म) परमाणुओं के ही कार्य हैं। इन्हीं कर्म परमाणुओं ने इसकी समस्त शक्तियां को आच्छादित करके इसको मोह जाल में इतना फँसा रक्खा है कि उन शक्तियों का विकास होना तो दूर रहा उनका स्मरण तक भी इसको नहीं हो पाता। इन संसारी जीवों में से जो जीव अपनी आत्मनिधि की सुधि पाकर और अविरत प्रयत्न करके इस अचेतन पदार्थ (कर्म) के आवरण को हटा देते हैं वे 'मुक्त' कहलाते हैं। उस समय उनका अनंत ज्ञान मय असली स्वरूप प्रगट हो जाता है और उनकी सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं तथा स्वभाव से ही सूक्ष्म होने से ऊर्ध्वगामी होने के कारण इस प्रकार कर्ममुक्त हो जाने पर लोक के सब से ऊंचे भाग में जा निवास करते हैं।

जीव की इस परम विशुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है। इसी के भिन्न २ गुणों और अवस्थाओं की अपेक्षा से अर्हत, जिनेन्द्र, सिद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध, बुद्ध, परंज्योति,

निरंजन, निर्विकार आदि भिन्न २ नाम हैं। वह परमात्मा परम वीतरागी और शांत स्वरूप है, उसको किसी से राग या द्वेश नहीं है, किसी की स्तुति, भक्ति और पूजा से वह प्रसन्न नहीं होता और न किसी की निन्दा से अप्रसन्न। उसको न तो धनवान, विद्वान और उच्चवर्ण के लोगों से ही प्रेम है और न निर्धन, मूर्ख और नीच जाति के लोगों से, घृणा।

सर्वज्ञता (केवल ज्ञान) की प्राप्ति होने पर जब तक देह का सम्बन्ध बना रहता है तब तक उनको 'अर्हंत' या जीवन मुक्त' कहते हैं और जब देह का सम्बन्ध भी छूट जाता है तब उनको 'सिद्ध' नाम से भूषित किया जाता है।

वे परमात्मा अर्हंतावस्था में सब जीवों को उनकी आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं कि किसप्रकार ये जीव कर्मों के शिकंजे में फँसे हुए हैं इनसे छुटकारा पाने के उपाय क्या २ हैं तथा दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है *

---

* जिस प्रकार जीवका कर्मों (अजीव) के साथ सम्बन्ध होता है और जिस प्रकार उनसे छुटकारा मिलता है उसका वैज्ञानिक वर्णन जैन धर्म इस प्रकार करता है। मन, वचन, काय (शरीर) की चंचलता के निमित्त से आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का ह्रास होता है और उस समय उसकी जैसी भी

शेष आत्माएं (उपरोक्त अवस्था के प्राप्त न होने तक) घोर बनों से युक्त पर्वतों से वेष्टित स्थान में होकर गुजरने वाले उस यात्री के समान भ्रमण करती रहती हैं जो अंधकार युक्त निशा में अपने रास्ते का ठीक २ पता न लगने से पथ

क्रिया होती है उसी प्रकार के कर्म (अचेतन) परमाणु उसकी तरफ़ आकर्षित होते हैं इसको ' आश्रव ' कहते हैं । तथा वे कर्म कषाय (क्रोध , मान, माया, लोभ रूपी भावों) के तीव्र या मंद होने की अपेक्षा से कम या अधिक समय के लिये आत्मा को बांध लेते हैं, इसको 'बंध' कहते हैं । इस बंधन को तोड़ने के दो उपाय हैं (१) संवर और (२) निर्जरा । 'संवर' से नवीन कर्मों का आश्रव नहीं हो पाता है और 'निर्जरा' से पूर्व में सम्बन्ध को प्राप्त कर्मों से छुटकारा मिल जाता है । इसी बात को हिंदू धर्म वाले कह सकते हैं कि संसार प्रवृत्ति (आश्रव) को वैराग्य द्वारा रोक कर सन्यासादि धारण करने से कर्मों का क्षय हो जाता है । आत्मा के स्वरूप के चिंतवन तथा चारित्र पालन आदि से 'संवर' होता है । ज्ञान आराधना और ध्यान आदि अंतरंग और बाह्य तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है और जब जीव कर्मों (अचेतन पदार्थ के आवरण) से पूर्ण रूप से छुटकारा पा जाता है तब उस अवस्था को उसकी 'मोक्ष' कहते हैं । कर्म (अचेतन) परमाणु आठ प्रकार के होते हैं (१) ज्ञानावरणी, जिसने आत्मा के ज्ञान गुण को ढँक रक्खा है (२) दर्शनावरणी, जो आत्मा के दर्शन गुण को ढँक दें (३) वेदनीय, जो सांसारिक सुख दुःख की सामग्री जोड़कर

भ्रष्ट होकर अपने लक्ष्य स्थान से बहुत दूर जा पहुँचा है और तरह २ की घोर यातनाओं को भोगता फिर रहा है। अवश्य ही ऐसी अवस्था में जब कि सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु चारों ओर मुँह फैलाये फिर रहे हैं और उसका जीवन भी संशययुक्त दिखाई देरहा है उस समय उस मनुष्य के लिये उस पथप्रदर्शक से बढ़कर श्रद्धास्पद और आदरणीय और कौन हो सकता है जो उसको सर्व प्रकार के दुःखों से बचने का उपाय बताकर उसके लक्ष्यस्थान तक पहुंचने का ठीक २ मार्ग बतादे। ठीक ऐसी ही अवस्था हम संसारी जीवों की भी है। जिन महान आत्माओं ने क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषायों को वश में करके और अपनी इन्द्रियों का दमन करके, अपनी आत्मा से भिन्न समस्त वस्तुओं से ममत्व (राग द्वेष) त्याग दिया है, जो सर्व प्रकार की क्षुधा, तृषा आदि वेदनाओं और सैंकड़ों प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए भी अपने कर्तव्य मार्ग से

सुख दुःख का भोग करावें। ४) मोहनीय, जो आत्मा के श्रद्धान और चारित्र (शांति) को बिगाड़ें ५) आयु, जो किसी शरीर में आत्मा को रोक रक्खें (६) नाम, जो शरीर की अच्छी बुरी रचना करें (७) गोत्र, जो ऊँच नीच पद प्राप्त करावें और (८) अंतराय, जो आत्मा के वीर्य या लाभ भोग आदि में विघ्न करें।

विचालित नहीं हुए, जिनने कर्मावरण से पैदा हुए अज्ञान अंधकार को दूर करके अपनी असली (शुद्ध) अवस्था प्राप्त करली है और हम असहाय अवस्था में डूबते हुए प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग बताकर हमारा अत्यंत उपकार किया है तथा जिनने हमारे सामने अपना आदर्श रखकर हमारे रास्ते को सुगम बनादिया है ऐसी महान आत्माओं के प्रति हमारे हृदयों में यदि आदर और प्रेम के भाव नहीं हैं, यदि हमारे हृदय उनकी भक्ति में प्लावित नहीं होरहे हैं और यदि उनको अपना आदर्श और पथप्रदर्शक मानकर उनके गुणों के चिंतवन में हमारा अनुराग नहीं है तो निस्संदेह कहना पड़ेगा कि मृगतृष्णा में पड़े हुए हम सुख की प्राप्ति के मार्ग से अभी बहुत दूर चक्कर लगा रहे हैं।

अर्हंतों की भी ऐसी ही महान आत्माओं में गिनती है और उनके द्वारा जगत का जो असीम उपकार होता है उसके बदले में हम उनके प्रति जितना आदर और कृतज्ञता प्रदर्शित करें वह सबकुछ तुच्छ है। जो लोग दूसरों के किये हुए उपकार को भुला देते हैं वे कृतघ्नी कहलाते हैं और वे कभी भी उन्नति नहीं कर सकते, इसलिये ऐसी महान आत्माओं के प्रति आदर और कृतज्ञता प्रदर्शित करना हमारा परम कर्तव्य है।

हमको यह भी ज्ञात है कि हमारा ध्येय आत्मस्वरुप की प्राप्ति है और वह एकाग्रता के साथ आत्मा के स्वाभाविक गुणों के चिंतवन * से हो सकती है किन्तु अधिकांश जीव

---

* मनमें एक ऐसी ज़बरदस्त शक्ति है कि इसको वश में बहुत ही मुश्किल से कर पाते हैं और जिसने मन को जीत लिया है, समझ लीजिये वह सब कुछ करने को समर्थ है। मन को वश में करने की साधना एकाग्रता पूर्वक चिंतवन के द्वारा उसे अपने ध्येय की तरफ़ लगा कर की जाती है। एकाग्रता पूर्वक चिंतवन का मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि कालांतर में ध्याता ही ध्येय हो जाता है अर्थात् वह जैसा बनना चाहता है वैसा ही बन जाता है। अतः यह कथन ठीक है कि मनुष्य के भाग्य का निर्माणकर्ता वह स्वयं ही है। वह निरंतर, जैसा मन में विचार करता है, जैसी भावनायें उसके मन में उत्पन्न होती हैं वैसा ही वह स्वयं भी हो जाता है। वह अपने को और अपने सुख दुःख को जब तक जीवन की बाह्य अवस्थाओं और दूसरे लोगों की कृपा पर अवलम्बित समझता रहता है तभी तक दुखी रहता है और जब यह अनुभव करने लग जाता है कि मैं आत्मा हूं, स्वयं अनंत शक्ति का भंडार हूं, अमर हूं, दृढ़ निश्चय के द्वारा प्रत्येक कार्य को कर सकता हूं, मैं स्वयं जैसा अपने आपको समझता रहता और करता रहता हूं वैसा ही बन जाता हूं, मैं किसी के आधीन नहीं हूं, किन्तु आत्मश्रद्धा और तीव्र इच्छा के द्वारा असंभव को भी संभव कर दिखा सकता

इस संसार की विषय वासनाओं में इतने फँसे हुए हैं कि गुणी के आश्रय के बिना गुणका उनके विचार तक में आना असंभव है। ऐसी अवस्था में चिंतवन तो हो ही कैसे सकता है, क्योंकि गुण गुणी वस्तु के आश्रय के बिना संसार में कहीं भी नहीं पाया जाता। जैसे उष्णता एक गुण है किन्तु हमको उसका ज्ञान उष्ण वस्तुओं के द्वारा ही होसकता है, वस्तुओं से अलहदा उसको हम कहीं भी नहीं पासकते तथा जहां हम उस गुणी वस्तु को देखते या स्मरण करते हैं कि उसके गुण

हैं, तब संशय, भय आदि सब जाते रहते हैं और उस की आत्मशक्तियाँ विकसित होने लगजाती हैं। आप अपने आपको जबतक दुखी समझकर दुःख के विचारों में ही लगे रहेंगे तबतक दुःख से बचने के सैकड़ों उपाय करने पर भी दुखी ही बने रहेंगे और जब दुःख का विचार मनमें से निकाल कर दृढ़ संकल्प के साथ हर जगह सुख ही सुख में अपने आप को देखेंगे तो आपकी दशामें परिवर्तन हो जायगा और आपको अवश्य सुख मिलेगा। इस में कोई शक नहीं कि यदि आपकी इच्छा अनुचित और घृणित है और आप प्रकृति के प्रतिकूल जारहे हैं तो आप का प्रयास विफल होने की पूर्ण संभावना है परन्तु जबतक आप की इच्छा शुद्ध, उचित और प्रकृति के अनुकूल है आप अपने प्रत्येक इच्छित कार्य की सिद्धि एकाग्रता पूर्वक चिंतवन के द्वारा करसकते हैं।

का भी हमे तत्काल ही स्मरण होजाता है। इससे यह आशय निकलता है कि अर्हंत आदि ऐसी महान आत्माएँ हैं जिनमें आत्मा के स्वाभाविक गुण पूर्ण रूप से विकसित होगयेहैं और उनके गुणों का ध्यान तथा उनके अलौकिक चरित्र का विचार हमें भी अपनी आत्मा और उसके स्वाभाविक गुणों की याद दिलाता है। इसीलिये वे हमारे आदर्श हैं और आत्मीय गुणों के पूर्ण विकास के लिये उसी आदर्श को सामने रख कर हम अपने चरित्र का गठन करते हैं। किन्तु अपने आदर्श पुरुष के गुणों में भक्ति और अनुराग का होना स्वाभाविक और आवश्यक है क्योंकि बिना अनुराग के कभी किसी गुण की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। यह सर्वत्र देखा जाता है कि जो मनुष्य जिस गुण से प्रेम करता है वह उस गुणवाले का भी अवश्य प्रेमपूर्वक आदर सत्कार करता है। आदर सत्कार रूप इस प्रवृत्ति का नाम ही पूजा औरउपासना है। हमारे आदर्श होने से ही अर्हंतों में हमारी भक्ति है और वही हम में उनके प्रति आदर सत्कार के भाव पैदा करती है। किन्तु क्या इस उपासना का उद्देश्य यह है कि वे इस उपासना के इच्छुक हैं और हमसे प्रसन्न होकर हमारी इच्छाओं को पूर्ण

करेंगे ? नहीं, वे परम वीतरागी और शांत स्वरूप हैं। उन्होंने काम, क्रोध आदि तथा सर्वप्रकार की इच्छाओं को नाश करदिया है, वे न तो स्तुति से ही प्रसन्न होते हैं और न निन्दा से ही अप्रसन्न। अतएव यह बात अच्छी तरह हृदय में जमा लेनी चाहिये कि जैनधर्मानुसार उपासना का मूल उद्देश्य हमारे उपास्य देव अर्हंतों के गुणों की प्राप्ति है अथवा दूसरे शब्दों में, उनके (आत्मा के स्वाभाविक) गुणों में हमारे अनुराग को दृढ़ बनाने के लिये ही उनकी उपासना कीजाती है ताकि बारबार एकाग्रता पूर्वक चिंतवन करने से हममें भी वे ही गुण प्रकट होजावें। जिस प्रकार एक यात्री के लिये अपने उद्देश्य स्थान और उस तक पहुंचने के मार्ग का, जब तक वह वहां न पहुंच जावे, ध्यान में रखना आवश्यक है और वहां पहुंचने पर वह यह चिंतवन नहीं करता कि मुझे अमुक स्थान पर पहुंचना है किन्तु यह समझ लेता है कि अब मैं उसी स्थान पर हूं, ठीक इसीप्रकार इस जीव के लिये भी अपने ध्येय और आदर्श पुरुषों के द्वारा बताएहुए मार्ग का ध्यान में रखना आवश्यक है तथा क्रम २ से ध्यान (चिंतवन)के द्वारा उसकी तरफ अग्रसर होता हुआ वह अंत में उसे पालेता है। उस समय चिंतवन की बिलकुल आवश्यकता नहीं होती और

सर्व प्रकार के विकल्प भाव मिटकर ध्याता और ध्येय दोनों एकही रूप होजाते हैं।

इससे प्रकट है कि अर्हंतोंकी उपासनाका मूल उद्देश्य केवल यही है कि आत्माकी जिन स्वाभाविक शक्तियों को उन्होंने विकसित करलियाहै वेही हममेंभी पूर्णरूपसे विकासको प्राप्तहोजावें तत्वार्थ सूत्रमें कहा भी है:- मोक्षमार्गस्यनेतारं भेत्तारंकर्मभूभृतां ज्ञातारं- विश्वतत्वानां वंदे तद्गुण लब्धये- अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता, कर्म रूपी पर्वतों के तोड़ने वाले और संसार के तत्वों के जानने वाले अर्हंतों को, उनके गुणोंकी प्राप्ति के लिये, वंदना करता हूं।

यद्यपि इस प्रकार की उपासना के द्वारा आत्मिक शक्तियों का विकास होजाने से परिणाम: रूपसे लौकिक प्रयोजनों की भी सिद्धि होती अवश्य है किन्तु यह बात ध्यान में रखलीजिये कि जो लोग लौकिक प्रयोजनोंकी पूर्तिकेलिये, सांसारिक इच्छाओं को पूर्ण करने की गरज से, अर्हंतों की पूजाभक्ति करते हैं तथा तरह २ के प्रण और सौगन्ध लेते हैं, केसरियानाथजी, महावीरजी, शिखरजी, गिरनारजी आदिकी ओलारियां बोलतेहैं और उनको आशा दिलातेहैं कि हमारे अमुक कार्य की सिद्धि हो जाने पर हम आपके दर्शन करने आवेंगे और छत्र चामरादि सुन्दर २ उपकरण चढ़ावेंगे: जो बीमारी और आईहुई दूसरी

आपत्तियों से छुटकारा पाने के लिये चौंसठऋद्धि, कर्मदहन, तीनलोक आदि के मंडल मंडवा कर उन वीतराग मूर्तियों को रिश्वत देने का ढोंग रचते हैं और जो यह समझते हैं कि कषाय और मिथ्यात्व की किंचिनमात्र भी उनके स्वभाव में चाहे कमी न आवे तो भी केवल उनकी अर्हतों के प्रति भक्ति और पूजा ही उनके कर्मों को नष्ट कर देगी; वे लोग नाम मात्र के जैनी हैं रूढ़ी के पीटनेवाले हैं और मिथ्यात्व के प्रभाव से जैनी बनने का ढोंग रचकर जैनधर्म को बदनाम करते हैं। ऐसी उपासना बिलकुल व्यर्थ होती है और उसके द्वारा उपासना के असली उद्देश्य की प्राप्ति करोड़ों वर्षों में भी नहीं होसकती। सच्ची पूजा तो वही है जो हमारे आदर्श—अर्हतों- के जैसे गुणों की प्राप्ति के उद्देश्य से कीजाती है। बहुधा बहुत से लोग अंधश्रद्धावश ऐसा भी समझते रहते हैं कि हमारे उपास्य देवों की भक्तिपूर्वक पूजा करने के कारण, उनके प्रसाद से हमेंभी उनके जैसे गुणों की प्राप्ति हो जायगी तथा हमारे कर्म भी कट जावेंगे किन्तु वास्तव में बात यह है कि उनके गुणों के अनुराग पूर्वक चिंतवन तथा ममता भाव से ही, न कि उनके प्रसाद से,हमारी आत्मा पर ऐसा प्रभाव पड़ता है और हमारी आत्मिक शक्तियां क्रम २ से विकास को प्राप्त हो कर वे गुण हममें भी प्रकट होजाते हैं।

जैसा हम पहले विचार कर चुके हैं अर्हंत एक दृष्टि से तो हम भूले भटकों का अपने उपदेश के द्वारा अत्यंत उपकार करगये हैं और दूसरी दृष्टि से हमारे आदर्श हैं तथा ये ही दोनों कारण हैं जिनकी वजह से जैनधर्म उस श्रेणी के महात्माओं की * पूजा और उपासना करने की आवश्यकता बताता है।

अब हम अपने प्रस्तुत विषय मूर्ति पूजा पर आते हैं।

---

* जैन धर्म मिथ्या पक्षपात करना भी नहीं सिखाता। वह कहता है :-

यो विश्वंवेदवेद्यं जननजलनिधेःभंगिनः पारदृश्वा।
पौर्वापर्याविरुद्धंमवचनमनुपमंनिष्कलंकम यदीयम॥
तं वंदे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विशन्तम।
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥

श्रीमत् भट्ट अकलंकदेव के उपरोक्त पद्यसे प्रकट है कि जैन धर्मानुसार वे सब महापुरुष, जो अपने अतीन्द्रिय ज्ञान के बलसे त्रिकाल सम्बंधी समस्त बातों को जानते हैं, जो संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान हैं, जिनका उपदेश निष्कलंक है और वस्तु स्वभाव के विरुद्ध नहीं है तथा जो सर्व गुणोंकी खान और सर्व दोषों से रहित हैं, चाहे उनका नाम बुद्ध हो, महावीर हो, विष्णु हो, केशव हो या शिव हो अथवा कोई और नाम ईसा मोहम्मद वगैरा हो, हमारे पूजनीयही हैं।

अर्हंत सर्वत्र सदा विद्यमान नहीं रहते इसलिये परमात्मा के गुणों की स्मृति दिलाने के लिये उनकी अर्हंत अवस्था की मूर्तियां बनाई जाती हैं। वे मूर्तियां उनके वीतरागता, ध्यान मुद्रा * और शांतता आदि गुणों का प्रतिबिम्ब होतीहैं और इसी उद्देश्य को पूर्ण करती हैं। ऐसी मूर्तियों को केवल पत्थर की बताकर जो उनकी निंदा करते हैं वे लोग वास्तव में जैनधर्म के तत्वों से परिचित नहीं हैं। जिस प्रकार किसी कमरे में लगे हुये, महान पुरुषों के चित्रों को देखकर उस कमरे में बैठने वालों के मन भी, (यदि वे उनको जानते हैं और उनके गुणों को आदर की दृष्टि से देखते हैं) समय २ पर जब २ भी

* ध्यान के समय शरीर की स्थिति कैसी होनी चाहिये, इसके लिये आसन का विधान कियागया है। जबतक आसन मज़बूत नहोगा तबतक मनभी ध्यान में स्थिर नरहसकेगा आसन की दृढ़ता से गरमी, सरदी, वर्षा, डांस, मच्छर आदि की तरह २ की पीड़ा होनेपर भी मन चलायमान नहीं होता। ध्यान करने के आसन बहुतसे हैं जिनमें पद्मासन बहुत सुगम है। जैनियों के मन्दिरों में जो पद्मासन मूर्तियाँ होती हैं उन्हें देखकर हम जान सकते हैं कि इस आसन को किस प्रकार लगाना चाहिये इस आसन में शरीर को बिलकुल सीधा रखना चाहिये और किसीभी अंग को तनाहुआ न रखकर सम्पूर्ण शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना चाहिये।

उनकी उन चित्रों पर दृष्टि जापड़ती है उन्हीं महापुरुषों के गुणों के स्मरण में लगजाते हैं और उनके द्वारा उनके चरित्र का भी सुधार होने लग जाता है; ठीक उसीप्रकार अर्हंतों की मूर्तियां भी प्रथम तो बनावट में ही निर्ग्रंथ, परम वीतरागता सूचक और शांतस्वरूप होती हैं और उन्हें देखने मात्र से अत्यन्त शांति मिलती तथा आत्मस्वरूप की स्मृति होती है, इसके अलावा उन महान आत्माओं के गुणों की याद दिला कर (जिनके स्मरण के लिये ही चित्र आदि की तरह वे भी बनाई गई हैं, हमारे विचारों को सुधारती तथा हमारे चरित्र को भी सुन्दर सांचे में ढालदेती हैं। हम फौरन विचारने लग जाते हैं कि हे आत्मन! तेरा स्वरूप तो यह है! इसे भूलकर तू संसार के मायाजाल में और कषायों के फंदे में क्यों फंसा हुआ है इत्यादि। इसप्रकार मनुष्य आत्मसुधार के मार्ग पर बढ़ने लगजाते हैं और उसका श्रेय निमित्त कारण होने से हम मूर्तियों को देते हैं। किन्तु फिरभी बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जिन पर उन वीतराग मूर्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु इसमें उन मूर्तियों का कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार नदी पार जाने का इच्छुक पुरुष यदि किनारे पर नाव मौजूद होते हुये भी उस में न बैठकर वैसेही अपने प्राण गँवा देता है किन्तु इससे उस नाव की उपयोगिता में कोई फर्क नहीं

आता उसीप्रकार यदि उन मूर्तियों से भी कोई लाभ नहीं उठाता तो उससे उनकी उपयोगिता कम नहीं होजाती। उन मूर्तियों को जो प्रणामादिक कियाजाता है वह वास्तव में आत्मा के स्वाभाविक गुणों को (जो उन अर्हन्तों ने प्राप्त कर लिये थे) ही प्रणामादिक करना है, धातु पाषाण को नहीं क्योंकि केवल उन गुणों को ही लक्ष करके उन मूर्तियों की स्थापना की गई है।

अब हमें यह विचार करना है कि उपासना मूर्त पदार्थ- जैसे मूर्ति- के अवलम्बन के बिना भी होसकती है या नहीं और यदि होसकती है तो किसप्रकार ? निस्संदेह मूर्त वस्तु के अवलम्बन के बिना भी उपासना होसकती है और वही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है जिसको हम श्रीमत नेमिचंद्र सैद्धान्तिक चक्रवर्ति के 'द्रव्यसंग्रह' की निम्नलिखित प्राकृत गाथा से प्रकट कर सकते हैं :—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइथिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं॥

इसका आशय यह है कि न तो कोई उपाय करो, न कुछ कहो और न किसी का चिंतवन करो, एक मात्र आत्मा

को आत्मा में लीन होना ही उत्कृष्ट ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि उत्कृष्ट ध्यान वह है जिसमें न तो अरहंतों के (आत्माके) गुणों का चिंतवन ही अपेक्षित होता है और न यम नियमादि रूप क्रियाओं का आचरण ही किन्तु केवल आत्मा को आत्मा में लीन करदेने की आवश्यकता होती है। इस ध्यान में किसीभी प्रकार के मूर्त आधार (अवलम्बन) की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यहां शब्द द्वारा चिंतवन का भी अस्तित्व नहीं रहता केवल परमात्मस्वरूप मय भाव ही पाये जाते हैं। ऐसा ध्यान निर्विकल्प ध्यान ही होसकता है और वह इतना कठिन है कि हम सांसारिक विषय वासनाओं में लगेहुए मनुष्यों तो क्या, अच्छे २ मुनि भी बिना बहुत बढ़ेहुए अभ्यास के नहीं करसकते। इसलिये इस ध्यान के करने की सामर्थ्य न रखने वाले मनुष्यों के लिये किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है और वह आलम्बन वे शब्द हैं जो आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करनेवाले भावों के द्योतक होते हैं। किन्तु उन मनुष्यों के लिये जो सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त होने से आत्मा के स्वाभाविक गुणों के द्योतक शब्दों के भाव को भी ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं एक और अव-लंबनकी आवश्यकता होती है जिसको मूर्ति या चित्र कहतेहैं।

ऊपर तीन प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। उनमें से पहला उत्कृष्ट ध्यान तो जहां कल्पना का भी अस्तित्व नहीं होता, केवल निर्विकल्प समाधि अवस्था को प्राप्त हुए मुनियों के द्वारा ही लगाया जासकता है अतएव वह, उससे नीचे दरजे के साधु और गृहस्थों के लिये, निरुपयोगी है और उस अवस्था के प्राप्त होने तक हमारे लिये उपासना के केवल दो ही साधन रहजाते हैं :— (१) परमात्मा या जीवनमुक्त परमात्मा (अर्हन्तों) के स्वाभाविक गुणों के द्योतक शब्दों का अवलम्बन लेकर (२) जीवनमुक्त परमात्मा (अर्हन्तों) के स्वाभाविक गुणों के द्योतक शब्दों और उन्हीं की तदाकार मूर्तियों का अवलंबन लेकर। ये दोनों प्रकार के ध्यान के अवलम्बन, शब्द और मूर्ति, मूर्तीक ही हैं इसीलिये हम कहसकते हैं कि (निर्विकल्प ध्यान के अलावा) संसार की कोई भी उपासना बिना मूर्त पदार्थ के अवलम्बन के हो ही नहीं सकती, चाहे वह मूर्त पदार्थ शब्द की तरह सूक्ष्म हो या पाषाण की मूर्तियों और चित्र आदि की तरह स्थूल। शब्द मूर्तीक पदार्थ है यह बात जैन धर्म से सिद्ध है * और आधुनिक विज्ञान ने भी Wireless telegraphy और Gramophone आदि के

---

* जैनधर्मानुसार संसार की उत्पत्ति केवल दो प्रकार की वस्तुओं से ही है (१) चेतन (२) अचेतन। अचेतन पदार्थ मूर्तीक

अन्वेषण के द्वारा यह अच्छी तरह प्रमाणित करदिया है कि शब्द मूर्तीक पदार्थों से उत्पन्न होते हैं और मूर्तीक पदार्थों से ही टकराते हैं इसलिये स्वयं भी एक प्रकार की सूक्ष्म मूर्तियाँ हैं ।

मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में ज्यों ज्यों आगे बढ़ता हुआ चलाजाता है त्यों त्यों उसके ध्यान का अवलंबन मूर्त आधार भी स्थूल से सूक्ष्म की तरफ क्रमशः बढ़ता हुआ चला जाता है और अंत में मूर्त आधार के अस्तित्व का बिलकुल ही लोप होजाता है। यही कारण है कि मूर्तियों के अवलम्बन के बिना आत्मचिंतवन में असमर्थ मनुष्यों को अर्हंतों की

है और चेतन अमूर्तीक। शब्दों की उत्पत्ति अचेतन पदार्थोंसेहै और इसीकारण वह मूर्तीक होते हैं। जिस प्रकार पानी में पत्थर फेंकने से उसमें हलचल मच जाती है और वहां से लहरें पैदाहोकर पानी में चारों ओर फैल जाती हैं उसी प्रकार वायु में भी मुंह के द्वारा या किसी और तरीके से आघात पहुंचने पर एक प्रकार की लहरें पैदा होकर वायुमंडल में चारों ओर फैल जाती हैं जिनको हम कानों के द्वारा ग्रहण करते हैं और अपने कार्यों के लिये मुक़र्रिर किये हुए संकेतों के अनुसार उनसे मतलब निकाल लेतेहैं ।

मूर्तियों की आवश्यकता होती है और जो मनुष्य इतनी उन्नति कर चुके हैं कि बिना मूर्तियों के अवलम्बन के भी केवल शब्दों की सहायता से ही उनके गुणों का चिन्तवन (ध्यान) कर सकते हैं उनके लिये अर्हन्तों की उन तदाकार मूर्तियों का अवलम्बन अनिवार्य नहीं होता। अवलम्बन के सूक्ष्म और स्थूल होने की अपेक्षा से ही केवल शब्दों द्वारा होनेवाली उपासना मूर्तियों या चित्रों द्वारा होनेवाली उपासना की अपेक्षा, ऊँचे दर्जे की मानी जाती है क्योंकि वहां मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में दूसरी की अपेक्षा ऊँची सीढ़ी पर होता है। किन्तु मूर्तियों तथा चित्रों के द्वारा होनेवाली उपासना को नीची श्रेणी की समझकर हम लोग उसे त्याग नहीं सकते क्योंकि उसी के सहारे हमें ऊपरकी सीढ़ी पर पहुंचना है। जो मनुष्य संसार के माया जाल में अत्यन्त फँसेहुए हैं और जिनके चित्त इतने चंचल हैं, कि केवल शब्दों द्वारा परमात्मा के गुणों का बिना उनकी जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्था के चित्र और मूर्तियों की सहायता के ध्यान करने में असमर्थ हैं, उनके लिये उन वीतराग- मूर्तियों अथवा चित्रों-की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस प्रकार 'सर्प' इस शब्द के कानों से सुनते ही या अक्षर रूप में नेत्रों के सामने आते

ही हमें 'सर्प' नामके एक विचित्र जहरीले जन्तु का बोध होता है, किन्तु वह बोध सर्प की तदाकार मूर्ति के देखने पर उससे कहीं अधिक होता है ठीक इसीप्रकार परमात्मस्वरूप के बोधक शब्दों के द्वारा परमात्मा का जो बोध हमको होता है वह उनकी अर्हन्तावस्था की तदाकार मूर्तियों के देखने पर और भी अधिक स्पष्ट होताहै । इसीलिये आजकल के विद्वान शिक्षा-लयों में बालकों को Direct method के अनुसार चित्रों और मूर्तियों के द्वारा शिक्षा देना अधिक पसंद करते हैं । वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि किसी भी वस्तु- उदाहरण के लिये, बारहसिंगा—की केवल शब्दों में गुण, आकार और बनावट इत्यादि कुल विशेषताएं बतादेने पर जो प्रभाव उसका बालकों की समझ पर पड़ सकता है उसकी अपेक्षा कितना ही गुणा अधिक प्रभाव उसके चित्र या तदाकारमूर्ति को दिखाकर ये सब बातें शब्दों द्वारा समझाने पर पड़ता है । संसार में सदा से अल्प विचारशक्ति वाले पुरुषों की ही संख्या अधिक रही है इसीलिये जैनाचार्यों ने भी उपासना के लिये हमारे आदर्श, अर्हतों की तदाकार मूर्तियों की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया है । हम सब परमात्मा, अल्लाह, God, ईश्वर, ॐ आदि का उच्चारण करते हैं, क्रॉस, ० आदि चिन्हों

का धर्म के नाम पर प्रयोग करते हैं, अपने २ आदर्श पुरुषों के चित्र धर्मस्थानों और मकानों में लटकाते हैं और उनके जन्म और मरण के पवित्र दिनों के प्रतिवर्ष उत्सव करते हैं, किन्तु इन सब कार्यों का उद्देश्य सिवाय इसके और कुछ नहीं होसकता कि ये सब कार्य परमात्मा की और उन महा पुरुषों की स्मृति दिलानेवाले हैं। जैनियों के मंदिरों में स्थापित की हुई अर्हतों की मूर्तियां भी परमात्मा की ही स्मृति दिलाने वाली हैं और इसलिये, जो लोग उनकी उपासना की निंदा करते हैं, वे वास्तव में जैनधर्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं।

किन्तु हम से पूछा जासकता है:- "क्योंजी! यदि जैन धर्म की मूर्तिपूजा ठीक वैसी ही आदर्श उपासना है कि जिस की प्रशंसा करने में तुमने इतने सफे रंग डाले हैं तो क्यों आज कल तुम (जैनी) हज़ारों रुपयों के चांवल, बादाम और केशर चढ़ाकर उन मूर्तियों को प्रसन्न करने की कोशिश करते रहते हो, क्यों उनको सुख दुःख की देनेवाली समझ कर अपने दुःख के निवारण के लिये तरह २ की स्तुतियें और पूजायें करते हो और यदि तुम्हें खुद को फुरसत नहीं मिलती है तो नोकरों के द्वारा उनकी सेवा पूजा क्यों कराते हो ?" निस्संदेह, इन सब प्रश्नों का उत्तर देना ज़रूरी है और जब तक हम इनका समा-

भान न करदें तबतक हम अपनी मूर्तिपूजा की प्रशंसा में चाहे कितना ही राग अलापें किन्तु उसका दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता । अन्य धर्मावलंबी ही क्या, बहुत से जैनी भी मूर्तिपूजा के हमारे इस प्रचलित ढंग को अर्थ तथा समय का दुरुपयोग करनेवाला समझने लगगये हैं और इसके परिणामस्वरूप आज दिगम्बर जैनियों में तारन पंथी और श्वेताम्बर जैनियों में स्थानकवासी ये दो पंथ मूर्ति पूजा के घोर विरोधी दृष्टि में आरहे हैं । इस विरोध का कारण भी यदि हम निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमें मालूम हो सकता है और वह यही कि हमारी मूर्तिपूजा आजकल अपने लक्ष्य से भ्रष्ट और आदर्श से च्युत होकर कोरी कुलपरम्परा रहगई है, उसमें सूखा भावहीन क्रिया कांड फैला हुआ है और लाखों रुपया पूजा और प्रतिष्ठा के नाम से प्रतिवर्ष खर्च करने और बहुत से आडम्बर करने पर भी सुधार कुछ नहीं होपाता किन्तु समाज में तरह २ के अनाचारों की ही वृद्धि होती जारही है । ऐसी परिस्थिति में हम (जैनी) स्वयं तो उद्देश्य से अत्यंत गिरी हुई मूर्तिपूजा करते रहें और दूसरे लोगों की बुराई करने के लिये आदर्श मूर्तिपूजा का राग अलापें ! क्या इसमें बुद्धिमानी है ?

उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में बहुधा हमारी (जैनियों की) तरफ से कहाजाता है:—

१. जैन शास्त्रों में पूजा दो प्रकार की कही गई है—एक द्रव्यपूजा और दूसरी भावपूजा। जल, चंदन आदि द्रव्यों का आश्रय लेकर भेंट चढ़ाना द्रव्यपूजा है और गुणों का विचारना भावपूजा है।

गृहस्थों के मन को द्रव्यपूजा के द्वारा भावपूजा में आठ द्रव्यों का आश्रय लेकर जगाना सुगम होता है। इसीलिये आठ द्रव्यों के द्वारा आठ प्रकार की भावनाएं करनी चाहिये:—

१. जल- चढ़ा कर यह भावना करना कि जन्म, जरा, मरण का रोग दूर हो।
२. चंदन से भव आताप की शांति हो।
३. अक्षत- से अविनाशी पद की प्राप्ति हो।
४- पुष्प- से काम विकार का नाश हो।
५. नैवेद्य- से क्षुधा रोग शांत हो।
६. दीप- से मोह अंधकार का नाश हो।
७. धूप- से आठ कर्म का नाश हो।
८. फल- से मोक्ष पद की प्राप्ति हो।

२. इससे हमारा चंचल चित्त जो लगातार एकही विचार पर लगा नहीं रह सकता, इसप्रकार 'विचार परिवर्तन' (Variation of thoughts) होजाने से, आसानी से रुक जाता है।

३. जिसप्रकार किसी गानेवाले का मन बाजे की सुर ताल की सहायता से ज्यादा लगता है उसी प्रकार 'द्रव्य पूजा' के द्वारा 'भाव पूजा' में ज्यादा ठहरता है।

अब हमें उपरोक्त तीनों बातों की विवेचना करके देखना है कि हमारा यह उत्तर कहाँ तक ठीक है:—

१. निस्सन्देह पूजा के दो भेद, द्रव्यपूजा और भाव पूजा, जैन शास्त्रों में माने गये हैं। किन्तु उस समय के जैनाचार्य वचन और शरीर को अन्य व्यापारों से हटाकर उन्हें अपने पूज्य के प्रति स्तुति पाठ करने और अंजुलि जोड़ने आदि रूप से एकाग्र करने को 'द्रव्य पूजा' और मन के एकाग्र करने को 'भाव पूजा' मानते थे जैसा कि श्री अमितगति आचार्य के निम्नलिखित वाक्य से प्रकट है—

> वचो विग्रह संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
> तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥

उपासकाचार ॥१

जैन धर्म संबंधी दूसरे विषयों के तो हजारों संस्कृत के प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं किन्तु पूजा विषयक बहुत कम दृष्टि में आते हैं, और वे भी प्राचीन नहीं। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में जैनियों में आजकल जैसी आडम्बर युक्त पूजन प्रचलित नहीं थी। लोग मन्दिरों में जाकर, जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने खड़े होकर या बैठकर, अनेक प्रकार के समझ में आने योग्य स्तोत्र पढ़ते और उनके गुणों का स्मरण करते हुये उनमें तल्लीन होजाते थे। वे, आजकल की सी जल, चंदन आदि चढ़ाने की पूजाओं के द्वारा नहीं किन्तु अर्हत भक्ति, सिद्धभक्ति आदि अनेक प्रकार के पाठों द्वारा (जिनमें से कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते हैं), पूजा और उपासना करते थे; अथवा ध्यानमुद्रा में बैठकर परमात्मा की मूर्ति को हृदय में धारण करके उनके गुणों का चिंतवन करते हुये उनकी उपासना किया करते थे। किन्तु समय ने पलटा खाया और ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगई जब " मैं जैनी हूँ " ऐसा कहना तक आपत्ति का घर समझा जानेलगा इतिहास देखने वाले जानते हैं कि शंकराचार्य के समय में हिन्दुओं और जैनियों में विरोध भाव बहुत बढ़गया था और जैनियों का पक्ष निर्बल होता जारहा था। इसकारण उस समय में उन पर

तरह २ के अत्याचार किये जाते थे यहाँ तक कि कई स्थानों में तो जैन मुनि दीवारों तक में जीते जी चुनवा दिये गये थे। यज्ञोपवीत आदि बाहरी हिन्दू धर्म के चिह्न न होने से उस समय के जैन विद्वान शूद्र नाम से अपमानित किये जाते थे तथा जैन धर्म और जैनियों का अस्तित्व तक क़ायम रहना कठिन होगया था। उस समय के दक्षिण के पांड्या राज्य के विषय में विंसेंट ए. स्मिथ अपने भारत के इतिहास में लिखते हैं—"Very soon after Hiuen Tsang's stay in the south, the Jains of the Pandya kingdom suffered a terrible persecution at the hands of the king variously called Kuna, Sundara or Nedumaran Pandya, who originally had been a Jain and was converted to a faith in Siva by a chola queen. He signalized his change of creed by atrocious outrages on the Jains who refused to follow his example. Tradition avers that eight thousand of them were impaled. Memory of the fact has been preserved in various ways, and to this day the Hindus of Madura, where the tragedy took place, celebrate the anniversary of 'the impalement of the Jains' as a festival (utsava)". इसका आशय यह है कि पांड्या राज्य के जैनियों को ह्वानचांग के दक्षिण में ठहरने के पश्चात् शीघ्र ही, वहाँ के

सम्राट्, कुण के अत्याचार सहन करने पड़े थे जो आरम्भ में जैनी था किन्तु पीछे जाकर अपनी चोल वंशीय रानी के प्रभाव से शैव बनगया था। उसने अपना धर्म परिवर्तन करते ही, उन जैनियों पर भी अनेक अमानुषिक अत्याचार किये कि जिनने उसकी तरह शैव बनने से इनकार कर दिया था। इतिहास कहता है कि ऐसे आठ हज़ार जैनी तो बिलकुल क़त्ल ही करवादिये गये थे। आज भी मदुरा के हिन्दू उस स्थान पर प्रति वर्ष उत्सव मनाते हैं।

उपरोक्त समय में, जिसको हम जैनियों की घटती का समय कह सकते हैं, लगभग समग्र ही भारतवर्ष में, जैनियों के प्रति हिन्दुओं का ऐसा ही बर्ताव रहा है। इस बात को सब जानते हैं कि दो विरोधी पक्ष वाले तब तक ही एक दूसरे का मुक़ाबला करते रहते हैं जबतक उनको अपनी विजय की आशा रहती है और जब उनमें से किसी को भी दूसरे पक्ष वाले के मुक़ाबले में अपनी सफलता की आशा बिलकुल नहीं रहती तब वह उससे मिलजुलकर और उसे खुश रखकर ही अपना अस्तित्व क़ायम रखने का प्रयत्न करता है। ऐसे संकट से बचने का जैनियों के लिये भी यही उपाय था कि भीतरी तौर पर जैन धर्म को पालन करते रहकर बाहरी

तौर पर हिन्दुओं का सा आचरण करते रहवें अपने धर्म की रक्षा के लिये, वे इसके सिवाय और कर ही क्या सकते थे? उस समय के जैनाचार्यों ने, जब जैनियों को मजबूर होकर हिन्दू धर्म की क्रियाओं को अपनाते हुये देखा तो उनका जैनत्व न चला जावे इस भय से, उन क्रियाओं के बाहरी रूप में कुछ परिवर्तन करके उनके मूल में जैन धर्म संबंधी कल्पनाएें डालदीं और उनको जैन शास्त्रों में स्थान देदिया। जैनी ही क्या, लगभग सब ही धर्म वालों को, जब २ भी उन पर ऐसा धर्म संकट आपड़ा है, तब २ ऐसा ही करना पड़ा है और जैनी भी उस समय यदि ऐसा न करते तो बहुत संभव था कि आज भारतवर्ष में जैन धर्म का भी बौद्धधर्म की तरह नाम मात्र ही अवशेष रहपाता। इसका श्रेय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मर्मज्ञ, उन जैनाचार्यों को है जिन्होंने विचारशीलता से काम लेकर, बिना उसके मूल रूप को विकृत किए, जैन धर्म की रक्षा करली।

इतिहास से यह भी साबित है कि जैनियों की इस घटना के समय में धार्मिक द्वेष बहुत बढ़ गया था यहाँ तक कि और तो क्या, हजारों जैन मंदिर और मूर्तियाँ तक नष्ट करदी गईं इसीकारण उस समय के जैनाचार्यों ने जैनियों से जैन मन्दिरों के बाहरी भाग में हिन्दुओं के भैरूजी की भी मूर्तियाँ

स्थापित करवाना शुरू कर दिया ताकि उनका उनसे हिन्दूपन टपकता रहे तथा जैन शास्त्रों में उन मूर्तियों को मानभद्र, क्षेत्रपालादि नामों से प्रसिद्ध करके जैनियों के उन संबंधी विश्वास में जैनत्व की छाप डालदी।

उपरोक्त प्रभाव जैनियों की उपासना पद्धति पर भी पड़े बिना नहीं रहा है। जिसप्रकार हिन्दुओं के यहाँ नैवेद्य आदि चढ़ाये जाते थे उसी प्रकार जैनियों के लिये भी, जैन धर्म के सिद्धान्तों का रङ्ग चढ़ा कर, अष्ट द्रव्यपूजा की कल्पना करिगई और उसे उनमें प्रचलित कर दिया। इस प्रकार वह उपासना का सीधासादा ढंग धीरे २ आडम्बरयुक्त होगया और जो जिनेन्द्र न तो किसी के बुलाने से जाते आते और न किसी के कहने से कहीं बैठते, ठहरते या नैवेद्यादि ग्रहण करते हैं उन्हें बुलाया, बिठाया जानेलगा और नैवेद्यादि अर्पण करने के बाद विसर्जनात्मक शब्दों के द्वारा विदा किये जाकर उनसे अपने अपराध क्षमा करवाना भी पूजा का आवश्यक अङ्ग बनगया। परन्तु निष्पक्ष दृष्टि से यदि आप विचार करें तो आप को निश्चय होजायगा कि ये बातें जैन धर्म के सिद्धान्तों से कतई मेल नहीं खातीं क्योंकि वे हिन्दूधर्म की केवल एकप्रकार

की नकल के रूप में हैं जो कुछ परिवर्तन करके अपनाली गई हैं। उदाहरण के लिये हिन्दुओं की 'पंचायतन पूजा' में का कुछ अंश जैनियों के विसर्जन पाठ से मीलान करने के लिये उद्धृत किया जाता है—

आवाहनं न जानामि न जानामि तवार्चनम् ।
पूजां चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्य भावेन रक्षस्व परमेश्वर ॥
मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वर ।
यत्पूजितं मयादेव परिपूर्णं तदस्तुमे ॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव क्षमस्व परमेश्वर ॥

उपरोक्त वाक्यों के हमारे विसर्जन के उसी से मिलते हुए अंश से मीलान करने पर इसमें संदेह नहीं रहता कि उपरोक्त के ही शब्दों में कुछ परिवर्तन करके हमने उसे अपना बना लिया है। इस विषय में हम (जैनी) यह कदापि नहीं कह सकते कि पूर्वोक्त में हिन्दुओं ने हमारी (जैनियों की) नकल की है क्योंकि हमारे यहाँ नैवेद्यादि चढ़ाने और इसप्रकार

के विसर्जन, आवाहन आदि की पूजाओं के कोई प्राचीन ग्रंथ नहीं हैं और हिन्दुओं के यहाँ। वेदों तक में आवाहन और विसर्जन पाया जाता है। हिन्दु इस बात को मानते हैं कि देवता बुलाने से आते, बैठते और चढ़ाया हुआ द्रव्य ग्रहण करके, विदा करने पर, वापस चले जाते हैं और उनके प्राचीन धर्मशास्त्र वेदादि में ऐसी पूजाएं भरीपड़ी हैं किन्तु हमारे धार्मिक उसूलों से ये बातें कतई मेल नहीं खाती। वास्तव में बात यह है कि उस समय के जैनियों को, हिन्दू धर्म के प्रभाव से दबकर, यह पूजा का ढंग भी ग्रहण करना पड़ा था और उस समय के आचार्यों ने, लोगों का धार्मिक विश्वास न डिगने पावे इस गरज से उसी को 'द्रव्य पूजा' नाम देदिया। अस्तु आप समझ गये होंगे कि जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है वह द्रव्य पूजा ही, प्राचीन आचार्यों की बनाई हुई द्रव्य पूजा है, जल चंदनादि से होनेवाली नहीं। बहुधा हमारे जैनी भाई नैवेद्यादि चढाने की पुष्टि में एक और उदाहरण दिया करते हैं। वे कहते हैं— "जिसप्रकार किसी राजा के सामने जाते समय हम, हमारे हृदयों में उसके प्रति आदर होने से, उसकी भेंट के लिये कोई न कोई वस्तु अवश्य लेजाते हैं उसीप्रकार जिनेन्द्र देव जो देवों के भी देव और राजाओं के भी राजा हैं,

उनके भी सम्मानार्थ हमें कुछ न कुछ चढ़ाने को अवश्य लेजाना चाहिये और जो लोग रीते हाथ जाते हैं- समझलो कि उनके हृदयों में उनके प्रति कोई आदर भाव नहीं है" हमारी समझ में ऐसे उदाहरणों का प्रभाव बच्चों और मूर्खों पर ही पड़ सकता है, समझदारों पर नहीं क्योंकि राजा की उपमा उन वीतराग अरहंतों को नहीं लग सकती। राजा तो भेंट आदि के इच्छुक और लक्ष्मी के उपासक होते हैं और भेंट आदि करने पर हम से प्रसन्न होते हैं किन्तु उन जिनेन्द्र को न तो हमारी भेंट की ही इच्छा होती है और न चढ़ाने पर प्रसन्न और नचढ़ाने पर अप्रसन्न ही होते हैं अतः हमारा वह द्रव्य चढ़ाना व्यर्थ होता है। यदि राजा की उपमा उन पर लगादी भी जावे तो जिस प्रकार राजा के आगे, जिस वस्तु को वह बुरा समझ कर घृणा की दृष्टि से देखने लग जाता है वह वस्तु भेंट करने पर वह नाराज ही होगा इस भय से, ऐसी वस्तु को कोई भी भेंट नहीं करता उसीप्रकार उन जिनेन्द्र के भी, जो क्षुधा तृषा आदि सर्व प्रकार की वेदनाओं से मुक्त हैं, जिनको किसी भी तरह की इच्छा नहीं है और जो सब वस्तुओं का त्याग करचुके हैं, उनकी इच्छा विरुद्ध (त्याग कीहुई) वस्तुएं भेंट करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करना उनका अनादर और उपहास करने के समान है।

इस पर प्रथम विचार किया जा चुका है कि उपासना परमात्मा के गुणों के चिंतवन (ध्यान) के रूप में की जानी चाहिये। किन्तु गृहस्थों का चित्त (जो सांसारिक प्रपंचों में फँसे रहते हैं) सर्वदा व्यग्र और अस्थिर रहता है अतः उपासना के विषय में एकाग्र करने में प्रथम हमें उसे शांत (समभावरूप) करना पड़ता है। यह कार्य बारह प्रकार की भावनाओं* तथा वैराग्य

* उपरोक्त बारह भावनाएं ये हैं:- (१) अनित्य-जीव आदि समस्त वस्तुएं पर्याय रूप से अनित्य (नाशवान) हैं अतः उन क्षणिक पर्यायों से मोह न करना चाहिये (२) अशरण- इस जीव को दुःख, मरण से बचा सकने की सामर्थ्य रखनेवाला कोई नहीं है, जैसे कर्म करेगा वैसा फल भोगना ही पड़ेगा (३) संसार भावना- अनेक जन्मों में यह जीव अच्छे से अच्छे सुख भोग चुका फिरभी नतो इसकी विषय तृष्णा मिटी और न शांति मिली अतः सुख की लालसा से इन इन्द्रिय जनित क्षणिक सुखों के पीछे दौड़ना व्यर्थ है (४) एकत्व-मेरे इस जीव को अकेला ही जन्मना, मरना व दुःख भोगना, पड़ता है और वह सबसे निराला एक आनन्दमई और ज्ञान आदि गुणों से युक्त है। (५) अन्यत्व- मेरे आत्मा से शरीरादि व सर्व ही आत्माएं व अन्य पांचों द्रव्य बिलकुल भिन्न हैं। (६) अशुचि- यह शरीर मलमूत्र से भरा है और इसके रोम २ से मल बहता रहता है ऐसे शरीर से ममत्व त्याग कर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। (७) आस्रव-किस प्रकार कर्मों का जीव की तरफ आस्रव

और शांति के उत्पादक भावों के चिनवन मे ही हो सकता है। इसप्रकार मन के समभाव रूप (शांत) होजाने पर उसे अपने उपासना के विषय में एकाग्र करने की आवश्यकता होती है क्योंकि बिना एसा किये अभीष्ट फल की सिद्धि होही नहीं सकती। मन की एकाग्रता का नेत्रों से घनिष्ठ संबंध है। जो अपने नेत्रों को वश में कर लेता है उसके लिये मन का एकाग्र करना आसान होजाता है अत: इस कार्य की सिद्धि के लिये मूर्ति के द्वारा उपासना करने वाले तो जिनेन्द्र की वीतराग छबि पर दृष्टि को स्थिर करके मन को एकाग्र करते हैं और दूसरे लोग, नासिका पर स्थिरकरके। मूर्ति के द्वारा दृष्टि को स्थिर करने का अभ्यास करते समय परमात्मा की उस सुंदर मूर्ति को एकटक देखते रहना चाहिये, न तो

होता है इस पर विचार करना (८) संवर- कर्मों के आस्रव को रोकने के उपायों का चिंतवन करना। (९) निर्जरा-जिन उपायों से कर्मों से छुटकारा मिलता है उनका चिंतवन करना (१०) लोक भावना विश्व की विशालता और विश्वलीला का विचार करके उस सब पर विजय प्राप्त करने की शक्ति वाले आत्मा की शक्तियों का चिंतवन करना (११) बोधिदुर्लभ-आत्मोद्धार के मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का प्राप्त होना अत्यंत कठिन है अतः प्राप्त होने पर उसे खोना न चाहिये। (१२) धर्म-धर्म आत्मा का स्वभाव है और अहिंसामई है।

आँखें ही झपकानी चाहिये और न आँखों की पुतलियों को ही इधर उधर फिरने देना चाहिये। यदि आँखों में पानी आजाय तो आने दिया जावे किन्तु आँखें बंद न की जावें। इसका अभ्यास प्रातःकाल और सांयकाल दोनों समय करें। पहिले दिन जब आँखों में पानी आजावे तब देखना बंद करदें पश्चात् क्रमशः बढ़ते २ जब १५ मिनिट तक इकटक देखते रहने का अभ्यास होजावे तब मूर्ति के सामने देखना बंद करके अपने अतरंग में दृष्टि को फेरिये। वहाँ आपको मूर्ति का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। उसे विशेष समय तक देखते रहने का अभ्यास कीजिये ज्यों २ अभ्यास बढ़ता जावेगा, वह प्रतिबिम्ब उतना ही अधिक स्पष्ट भासेगा। उस समय आप उन परमात्मा के अरहंतावस्था के जीवन की घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कीजिये और उनके गुणों के चिंतवन के साथ अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन कीजिये कि मैं अत्यन्त निर्मल, शुद्ध, अनन्त ज्ञान और अनंत शक्ति का भंडार, अनंत सुख से भरपूर, अपने मन वचन काय पर शासन करने में पूर्ण समर्थ और सर्व प्रकार के पापों और विकारों से परे हूँ। तथा दृढ़ विश्वास के साथ ज्ञानवरणी, दर्शनावरणी आदि अष्ट

कर्म को, एकएक को लेकर संकल्प* कीजिये कि उनके परमाणु आपके शरीर से निकल २ कर जारहे हैं और उनके क्षय होने के साथ ही ज्ञान, दर्शन आदि गुण क्रमशः प्रकट होते जारहे हैं (यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि जिस विचार का आप चिंतवन कर रहे हैं उसके अलावा कोई भी दूसरा विचार मन में न आने पावे और यदि आजावे तो उसी समय उसे निकाल देना चाहिये)। फिर देखिए! आप की इस

---

* संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो अटल विश्वास और दृढ़ संकल्प के द्वारा पूरा न होसके। विश्वास के बल से मानसिक शक्तियां एकत्रित होकर संकल्प की दृढ़ता से काम को पूरा करने की तरफ लग जाती हैं। श्रद्धाहीन (संशयी) पुरुष सदैव शंकावादी बना रहता है। वह कहता है कि मैं अशक्त हूं, दीन हूं, डरपोक हूं, अब मैं क्या करूं, मैं बीमार हूं, मुझे किसी का रोग तो नहीं लग जायगा मेरा काम होगा या नहीं, मेरी पाचनशक्ति ठीक नहीं है, मेरे दिन अब खराब आगये हैं, मेरी ग्रहदशा अब ठीक नहीं है आदि। वह इस प्रकार चिंता भय और शंका के विचारों को मनन करता रहने से तथा दुःख दरिद्रता और घातक विचारों के ही विचार में पड़ा रहने से, सदैव दुखी ही बना रहता है। भय से मनुष्य की मृत्यु तक होजाती है There is nothing but fear to fear अर्थात् भय ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य को डरते रहना चाहिये। इसी लिये जैनधर्म ने शंका और भय को सम्यग्दर्शन का अतीचार

एक ऐसे विशेष क्रम से घुमाते फिराते लेजावें जिससे वह उकताने भी न पावे और हमारे काबू में भी बना रहे। बस, इसी को Variation of thoughts कहते हैं परन्तु प्रश्न यहाँ यह पैदा होता है कि क्या Variation of thoughts बिना द्रव्य की सहायता के नहीं हो सकता है अथवा क्या द्रव्य उसके लिये अनिवार्य है? इसका उत्तर Variation of thoughts के अर्थ पर विचार करने से ही मालूम होसकता है जिसका अर्थ है 'विचारों का बदलना'। विचार तो तब भी बदलते हैं कि जब मन एक विचार से उकता कर भाग जाता है परन्तु यह विचारों का बदलना और तरह का है। इसमें विचारों के बदलने का क्रम पहिले से ही निश्चित कर लिया जाता है और इस प्रकार पहिले से निश्चित किये हुये क्रम के अनुसार विचार बदलते रहने से मन भी उकता कर नहीं भागता और साथ ही उन निश्चित विचारों से बाहर न जा सकने से काबू में भी बना रहता है। इस दृष्टि से प्रचलित द्रव्यपूजा पर भी विचार करने पर आपको मालूम होगा कि इसमें भी एक निश्चित क्रम से आठ प्रकार की भावनाओं (विचारों) का चिंतवन किया जाता है और इस प्रकार एक ही भावना का लगातार चिंतवन न होने से मन नहीं उकताने पाता। उसमें थोड़े २ काल तक एक २ भावना को लेकर बारी

वारों से चिनवन किया जाता है तथा प्रत्येक भावना के चिंतवन के समय उसके सिवाय कोई भी दूसरा विचार मन में नहीं आने दिया जाता इसलिये एकाग्रता का भी अभ्यास होता है। जब मन एक भावना के चिंतवन को छोड़ता है तो वैसे ही अपनी मर्जी के मुताबिक इधर उधर नहीं चला जाता प्रत्युत उसे पहिले से निश्चित किये हुये क्रम के अनुसार आनेवाली, उसके पीछे की भावना पर ही जाना पड़ता है। हमारे इस विवेचन से आप समझ गये होंगे कि प्रचलित द्रव्यपूजा में जो कुछ महत्व है वह निश्चित क्रमवाली उन आठ प्रकार की भावनाओं में ही है जो उन द्रव्यों को चढ़ाते समय की जाती हैं। द्रव्य से उसमें किसी भी प्रकार की विशेषता नहीं आती क्योंकि वह तो एक अनावश्यक वस्तु और हमारे हिन्दू भाइयों के अनुकरण में सीखा हुआ एक आडम्बर है जिसकी सहायता के बिना ही, एक निश्चित क्रमवाली, भावनाओं के द्वारा हम अपने ध्येय के चिंतवन में एकाग्रता संपादन करने का अभ्यास कर सकते हैं। यदि इस प्रचलित अष्ट द्रव्यपूजा में से उन आठ प्रकार की भावनाओं के चिंतवनको निकाल दें तो वे क्रम २ से चढ़ाये जाने वाले जलचंदनादि द्रव्य किसी भी तरह Variation of thoughts के उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकते और यदि 'जन्म जरा मरण के नाश के लिये जल चढ़ाता हूं' (जन्म जरा मृत्यु

विनाशनाय जलं) आदि न कहकर केवल 'मेरा जन्म, जरा, मरण रूपी रोग दूर हो' इस प्रकार क्रम २ से आठों प्रकार की भावनाओं का चिंतवन करते हुये चले जावें तो जलचंदनादि द्रव्य के बिना भी Variation of thoughts के उद्देश्य की सिद्धि अच्छी तरह हो सकती है। जल, चंदन आदि द्रव्य में कोई भी ऐसी बात नहीं है कि वह किसी भी प्रकार से एकाग्रता संपादन में सहायक होसके और न यह बात ही है कि 'जन्म, जरा, मरण के नाश के लिये', "जल चढ़ाता हूं", ऐसा कहे बिना वह भावना हो ही न सके। इससे प्रकट है कि इस अष्टद्रव्यपूजा में भी जो कुछ महत्व है वह द्रव्य में नहीं किन्तु निश्चित क्रम से कीजाने वाली भावनाओं में ही है। इसी प्रकार कंठ किये हुये पाठ, स्तुति आदि के द्वारा भी अल्पशक्ति वालों को एकाग्रता का अभ्यास बहुत आसानी से होजाता है क्योंकि उसमें भी पूर्व निश्चित क्रम से थोड़े २ समय तक उसके एक २ पद के अर्थ पर चिंतवन करते हुये जाना पड़ता है तथा ऐसा ही लाभ आदर्श पुरुषों के जीवन की घटनाओं और बारह भावना आदि का किसी पूर्व निश्चित क्रमानुसार चिंतवन करने से भी होता है।

(३) यह कहना, कि जिस तरह किसी गाने वाले का मन बाजे की सुरताल की सहायता से ज्यादा लगता है उसी

प्रकार द्रव्य पूजा के द्वारा भाव पूजा में मन ज्यादा ठहर सकता है, सो ठीक नहीं है। यहां विचारने की बात यह है कि एकाग्रता सम्पादन का जो गुण बाजे की सुरताल में होता है वही क्या द्रव्य में भी हो सकता है? बाजे की सुरताल (संगीत-ध्वनि) का मनमोहक गुण तो लोक प्रसिद्ध है और उसमें ऐसी शक्ति है कि मनुष्य की शकल देखते ही दूर भागने वाले मृग तथा सर्प आदि जन्तु भी उस मधुर ध्वनि से मोहित होकर अपने पकड़ने वाले की कोई परवा न करते हुये उसके सुनने में दत्तचित्त होकर जहां के तहां खड़े रह जाते हैं और अपनी स्वतंत्रता खो बैठते हैं। अतः अष्ट द्रव्य को बाजे की सुरताल के समान मानना ठीक नहीं है। उदाहरण के लिये दो मनुष्यों का विचार कीजिये जिनमें से एक तो गाना गा रहा है और दूसरा अपने इष्टदेव की पूजा बोल रहा है। दोनों के लिये एक २ बाजे का प्रबन्ध कर दीजिये। बाजे की ध्वनि से जिस प्रकार वह गाने वाला गाने में मस्त होजाता है उसीप्रकार वह पूजा करने वाला भी उस पूजा की भावनाओं में लीन होजाता है। किन्तु दोनों को बाजे के स्थान में अष्ट द्रव्य देदीजिये और उन्हें समझाइये कि इससे तुम्हारा मन ज्यादा लगेगा- फिर देखना वह गाने वाला आपकी इस बात का क्या उत्तर देता है? मतलब यह है कि द्रव्य में मन की एकाग्रता

को बढ़ाने की कोई शक्ति नहीं है और स्वरों के उतार चढ़ाव से उत्पन्न होने वाली बाजे की इस संगीत ध्वनि में यह शक्ति प्राकृतिक तौर पर ही भरी पड़ी है। आप देखते हैं कि बेन्ड आदि बाजों में यह पता न होते हुए भी कि उनके बजाने वाले किस भावना से युक्त कौनसा गाना गा रहे हैं तो भी केवल उनकी ध्वनि मात्र से हमारा मन सब जगह से खिंच कर उनके सुनने में एकाग्र होजाता है। इससे प्रकट है कि स्वरों के उतार चढ़ाव रूप बाजे की ध्वनि में तो चिंतवन योग्य किसी भावना का अस्तित्व न होते हुये भी मन को एकाग्र कर देने की शक्ति होती है किन्तु द्रव्यपूजा में जिन भावों का चिंतवन करके द्रव्य चढ़ाया जाता है, वे भाव यदि निकाल दिये जावें तो कोरा द्रव्य चढ़ाना कुछ भी नहीं कर सकता। वास्तव में वे निश्चित क्रमवाली आठ प्रकार की भावनाएँ ही हैं जो, एक ही भावना में लगातार बहुत समय तक एकाग्रता रख सकने में असमर्थ हमको, धीरे २ उस योग्य बनाती हैं। द्रव्य में ऐसी कोई भी विशेषता आज तक न तो देखी गई और न सुनी गई कि उसको बाजे के सुरताल से समानता दी जासके।

जलचंदनादि द्रव्य चढ़ाने के पक्ष में आजकल बहुधा जो कुछ कहाजाता है उसका विवेचन अब तक काफी किया जाचुका है

और उस पर निष्पक्ष भाव से विचार करने पर इसमें संदेह नहीं रहता कि इसके चढ़ाने से हमारी भावपूजा में हमें कोई भी लाभ नहीं पहुंचता तथा प्राचीन समय में भी जैनियों में इस ढंग की द्रव्यपूजा नहीं कीजाती थी किन्तु हमारी घटती के समय में ही हमारे हिंदू भाइयों का अनुकरण करके उनकी और बहुत सी बातों के साथ हमने इसे भी अपनालिया है।

अब उन बुराइयों का दिग्दर्शन करा देना भी उचित होगा जो हमारी जैन समाज में इस द्रव्यपूजापद्धति के कारण उत्पन्न होगई हैं। यद्यपि जैन धर्म इस बात को नहीं मानता है कि अरहंत, जिनकी मन्दिरों में प्रतिमाएं हैं वे, हमें सुख दुःख देते या हमारे कर्मों को नष्ट कर देते हैं तो भी जिस श्रेणी के मनुष्यों के सुधार के निमित्त प्रचलित द्रव्य पूजा की आवश्यकता बताई जाती है उस श्रेणी के मनुष्यों के चित्त पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। यह बात मानी हुई है कि प्रत्येक धर्म के मानने वालों में बहुत थोड़े ही मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने २ धर्म को, उसके धार्मिक तत्वों को समझ कर ही, ग्रहण किये हुये हों तथा ऐसे मनुष्यों की ही संख्या अधिक होती है जो बिना उसके तत्वों को समझे केवल कुल परंपरा के कारण उस धर्म को सच्चा समझ कर उसके अनुयायी

धर्म भक्त हैं। जो लोग एक धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म को को ग्रहण कर लेते हैं उनमें भी बहुत से तो ऐसे होते हैं जो यातो पेट के खातिर ऐसा करते हैं (भारतवर्ष में ईसाइयों की संख्या अधिक करके इसीप्रकार बढ़ी है) या प्राण नाश के भय से (इस्लाम का प्रचार अधिक करके इसी प्रकार हुआ है) या योगाभ्यास से उत्पन्न हुई सिद्धियों के चमत्कार से प्रभावित होकर (यह बात लोगों में आमतौर से देखी जाती है कि जहां किसी साधु, महात्मा ने कुछ करामातें दिखाईं कि लोग उसे पूरी श्रद्धा से देखने लगजाते हैं और उसके वाक्यों पर इतना विश्वास करते हैं कि जितना दूसरे सच्चे से सच्चे मनुष्य पर भी नहीं। वे ऐसी सिद्धियों का होना सचाई का प्रमाण मानते हैं*) और या अपने श्रद्धापात्र बड़े आदमियों के अनुकरण के रूप में ऐसा करते हैं। इसलिये हमारा यह

*उदाहरण के लिये खंडेलवाल जैनियों की उत्पत्ति के इतिहास पर विचार कीजिये। वह इसप्रकार है कि एक समय खंडेला प्रांत में मरी रोग फैला हुआ था। कुछ जैन मुनियों ने वहां पदार्पण किया और उनके प्रभाव से वह रोग उस प्रांत से ही मिट गया यद्यपि यह केवल योगाभ्यास से उत्पन्न हुई सिद्धि का प्रभाव था और धर्म की सत्यता से इसका कोई संबन्ध नहीं था तथापि उन लोगों ने इसको जैन धर्म की सत्यता का प्रमाण समझा और उस प्रांत के बहुत से लोग जैनी होगये।

कथन अनुचित नहीं है कि किसी भी धर्म के अनुयायियों में, उसके तत्वों को समझ कर उस धर्म को मानने वाले, बहुत अल्प संख्या में होते हैं। ऐसे मनुष्यों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उसकी प्रत्येक क्रिया को समझ २ कर ही करेंगे। अतः धर्म की प्रत्येक क्रिया का रूप ऐसा होना चाहिये कि उसका असली आशय साफ तौर से प्रकट होता रहे और अल्प बुद्धि वाले उसका और मतलब न समझलें। इस दृष्टि से प्रचलित द्रव्य पूजा के ढंग पर विचार करने से मालूम होगा कि इससे वर्तमान जैन समाज में धर्म के नाम पर मिथ्यात्व की वृद्धि बहुत होगई है। लोग अरहंतों को हिन्दुओं के से करता हरता ईश्वर समझ कर इस विश्वास को लिए रहते हैं कि उनकी भक्तिपूर्वक सेवापूजा आदि करने पर और पूजा के लिये चांवल आदि द्रव्य भेजदेने पर वे हमें सुख देते और संसार के दुःखों से पीछा छुड़ा देते हैं। इसीकारण उनका प्रत्येक कार्य इसी भाव को लिये हुये होता है। जहां ज्वर आदि रोगों से पीड़ित हुए कि 'मंदिरजी' दौड़ जाते हैं और उनकी निवृत्ति के लिये 'भगवान की 'प्रक्षाल' के नातने की लकीर लाकर बांधते हैं और रोग से छुटकारा पाजाने पर उसे 'भगवान' का अतिशय समझते हैं। * यदि उन्हें किसीप्रकार की विपत्ति आघेरती है तो भयभीत

* 'शनिमाजी' का 'संध्यादि' लगाने से, उनकी प्रक्षाल के सामने

होकर प्रतिज्ञाएं करते हैं-हे महावीरजी ! इस बिपत्ति से छुटकारा मिल जाने पर मैं आपके दर्शन करने आऊंगा और तब तक के लिये मेरे चांवल खाने के त्याग हैं आदि-अथवा उससे छुटकारा पाने के लिये मंडल मंडवाते हैं या सप्तऋषि आदि की पूजाएं करवाते हैं। मतलब यह है कि हमारी जैन समाज के धार्मिक विचार आमतौर से हिन्दुओं के से होरहे हैं और यदि आप इसकी जांच करें तो जहां तक हमारा विचार है लगभग सबही जगह जैन समाज की ऐसी ही हालत आपकी दृष्टि में आवेगी। इस पूजा के ढंग ने और तो क्या, समाज के अच्छे २ विद्वानों और

कीलकीर बांधने से तथा उसी प्रकार और देवी देवताओं की भभूत वगैरा लगाने से हम लोगों के दुःखों की जो निवृत्ति होती है उसमें उन प्रतिमाजी तथा उन देवी देवताओं की शक्ति का प्रभाव नहीं होता किन्तु उसका कारण स्वयं हमारी Will Power संकल्प शक्ति ही है। जो लोग अपने भिन्न २ इष्टदेव के प्रभाव से ऐसा होना मानते हैं वे भूल करते हैं और वे उस कस्तूरी मृग के सदृश हैं जो यह न जान कर, कि जिस अमूल्य वस्तु की खोज में मैं हूं वह मेरे ही अन्दर मौजूद है, रात दिन उसीकी तलाश में व्यर्थ ही मारा २ फिरता रहता है। वास्तव में आपके अन्दर ही आपकी आत्मा की अनंत शक्ति छिपी पड़ी है जिस पर यदि आपकी पूर्ण श्रद्धा हो तो आप संसार को अनेक विचित्र से भी विचित्र कार्य करके दिखा सकते हैं।

कवियों तक को खाली नहीं जाने दिया है। चाविल आदि द्रव्य चढ़ाने का उनके मस्तिष्क पर कुछ प्रभाव ही ऐसा पड़ा कि उनके विचार और परिणाम स्वरूप पूजा पाठ आदि उनकी कृतियां, सब हिन्दू धर्म के आस्तिक विचारों के रंग में रंग गये। वे भक्ति रस के प्रभाव में इतने डूब गये कि उनको यह तक ख़याल नहीं रहा कि 'जैनधर्म ईश्वर के कर्तापन को स्वीकार नहीं करता अतः उसमें भक्ति की सीमा बहुत मर्यादित है'। इसके कुछ उदाहरण भी देखिए। एक जैन कवि जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं- "नाथ मोहि जैसे बने वैसे तारो मोरी करनी कछु न विचारो" आदि-कर्त्ता को ही ईश्वर मानने वाले जैन कवि के इस वचन में ईश्वर कर्तृत्व का कितना भाव भरा हुआ है। पूजा के अंत में प्रति दिन प्रार्थना की जाती है- "सुख देना दुख मेटना यही तुम्हारी बान, मोहि गरीब की बीनती सुन लीजो भगवान"। शांति पाठ में भी प्रति दिन इच्छा की जाती है-"कृपा तिहारी ऐसी होय, जामन मरण मिटावो मोय" एक प्रसिद्ध कवि वृन्दावनजी अपनी संकटहरण स्तुति में कहते हैं-"हो दीनबंधु श्रीपति करुणा निधानजी, अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी . मालिक हो दो जहान के जिनराज आप ही, एबो हुनर हमारा कुछ तुम से छुपा नहीं। बेजान

में गुनाह जो मुझ से बन गया सही, कंकरीके चोर को कटार मारिये नहीं।" यही कवि अपनी दूसरी स्तुति में लिखते हैं-"कपि श्वान सिंह नवल अज बैल विचारे, तिर्यंच जिन्हें रंच न था बोध चितारे इत्यादि को सुरधाम दे शिव धाम में धारे, हम आपसे दातार का प्रभु आज निहारे"। इसप्रकार और भी कई पूजा पाठ स्तुतियां आदि हैं जिन में ऐसी ही बातें भरी पड़ी हैं।

अब बताइये, इनका लोगों पर क्या प्रभाव पड़ता होगा? ऐसी हालत में क्यों न वे, परमात्मा को हिन्दुओं के जैसे कर्ता हर्ता परमेश्वर समझते रहेंगे और अपने ही अन्दर छिपी पड़ी हुई आत्मा की अनंत शक्ति में श्रद्धाहीन होकर सांसारिक दुःखों से भयभीत हुए, उन परमात्मा को ही सब कुछ सांसारिक सुख आदि देने का प्रभाव रखने वाले समझते रहेंगे? निस्संदेह इन सब बातों के कारण हमारी समाज का धार्मिक विश्वास आमतौर से मिथ्यात्व के रूप में परिणत होगया है। लोग आत्मा और आत्मशक्ति में बिलकुल श्रद्धाहीन होगये हैं। वे अपने आपको, आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के प्राप्त करने की सामर्थ्य से रहित, तुच्छ सा व्यक्ति समझते रहते हैं और अपने प्रत्येक सुख की प्राप्ति को भगवान के प्रभाव पर अवलंबित

समझ कर केवल रटीहुई पूजा या पाठ आदि के द्वारा (जिनके मतलब तक का मनन करने की इच्छा नहीं की जाती) भक्तिपूर्वक जलचंदनादि चढ़ाकर पूजा करने मात्र ही में धर्म समझते रहते हैं। ऐसे ('जैनी' नाम के धारण करने वाले) मनुष्य क्या सम्यग्दृष्टि कहे जाने के योग्य हो सकते हैं और वे, जिनका अपनी आत्मा की शक्ति (योग्यता) में विश्वास तक नहीं है, यदि सांसारिक स्वार्थों के खातिर संसार में भीरु और कायर बन कर जैनधर्म के सर्वोत्कृष्ट मूल सिद्धांत 'अहिंसा' को कायरता, भीरुता और भारत के पराधीन होने का कारण, आदि खिताब दूसरों से प्राप्त करवा कर जैनधर्म की अ प्रभावना करवाते हैं तो आश्चर्य क्या ही है? अतः हमें चाहिये कि निरुत्साहित करने वाली (Passimistic)भावनाओं और पूजा पाठ का कभी विचार तक न करें तथा सर्वदा ऐसी ही भावनाओं से युक्त पूजा पाठ का चिंतवन कियाकरें जो उत्साहवर्धक (Optimistic) हों और आत्मबलको विकसित करने वाले हों।

इसके उत्तर में संभव है आप यह कहें "कि कारण दो प्रकार का होता है-एक मुख्य, दूसरा निमित्त। परमात्मा की अर्हंता-वस्था की मूर्तियों की पूजा आदि के निमित्त से हमारी आत्म-

शुद्धि होकर हमारे कर्म नाश होते हैं इसलिये निमित्त कारण रूपमें वे हमारे कर्मों के नष्ट करने वाले हैं"। किन्तु इस पर आप स्वयं ही पक्षपातरहित होकर विचार करें तो आपको मालूम होसकता है कि अल्प समझवाले लोगों पर कि जिनकी ही संख्या इस समय अधिक दिखाई देती है इसका वैसा ही असर पड़ता है जिसका वर्णन ऊपर किया जाचुका है। वे उस निमित्त कारण के रहस्य को समझने न पाकर उसको मुख्य कारण ही मान लेते हैं * तथा इसप्रकार अर्थ का अनर्थ होजाता है।

---

* आजकल मंदिरों और तीर्थों के झगड़ों में लाखों रुपया स्वाहा हो रहा है वह किसी से छिपा नहीं है। हमारी धर्मान्धता और पूजा सिद्धान्त से अनभिज्ञताही इसका कारण है। जिन मूर्तियों की स्थापना का उद्देश्य अपना और दूसरे लोगों का आत्मकल्याण करने का था और जिनके गुणों के चिंतवन से हर एक मनुष्य स्वतंत्र होकर अपना आत्मकल्याण कर सकता था उन्हींको आजकल जिनके कब्ज़े में वे आजाती हैं वे तो अपनी मिल्कियत समझने लग जाते हैं और उनकी सेवा करने और द्रव्य (जल चंदनादि) चढ़ाने की व्यर्थ की बाहरी आडंबर की बातों के लिये, जिनमें कोई धार्मिक तत्व नहीं है, लड़ कर विश्वमैत्री के स्थान में कलह का प्रचार करते हैं। यदि आज ही हम इस आडम्बर को (जो धर्म का आवश्यक अंग नहीं है) छोड़दें तो इस कलह का नाम भी न रहे और लाखों रुपये का जो मुकद्दमेबाज़ी और इस आडंबर में दुरुपयोग हो रहा है वह न होने पावे।

समझ में नहीं आता कि ऐसी कौनसी आवश्यकता है जिसके लिये निमित्त कारण को हद से ज्यादा महत्व देकर असली कारण के महत्व को इतना गिरा दिया जा रहा है । अतः वर्तमान परिस्थिति में यदि वे, उन मूर्तियों के नाम पर जिनको उद्देश्य रूप से वे केवल वीतराग परिणामों की प्राप्ति के लिये ही पूजते हैं, उपासना की असलियत को न समझ सकने से व्यर्थ की छोटी २ बातों के लिये लड़ कर बजाय वीतराग परिणाम के कषाय को मोल लेलेते हैं, जाति के हजारों बच्चों के, उचित शिक्षा न मिल सकने से, खोमचे बेचते फिरते रहने और पांच २ रुपये की दूकानों पर झाड़ू देनेकी नौकरी के लिये लालायित रहने पर भी, उनकी शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों में खर्च न करके केवल मंदिरों (जहां पहिले से ही बहुत काफी रुपया होता है और सत्ताधारी पटेलों के घरू कार्यों में काम आता रहता है) और प्रतिष्ठाओं में व्यय करने में ही धर्म समझते हैं तो आश्चर्य ही क्या है !

समाज के अच्छे २ समझदार व्यक्तियों को भी आमतौर से भगवान की पूजा के लिये मंदिरों में सामग्री भेजते देखा जाता है जिसके द्वारा यातो दूसरे लोग पूजा करते हैं और या नौकर । हम पूछते हैं कि जिस पूजा का उद्देश्य अरहंतों के गुणों

के चिंतवन के परिणामस्वरूप से होने वाली भावों की निर्मलता है क्या उस उद्देश्य की प्राप्ति केवल सामग्री भेजने मात्र से ही होजाती है अथवा क्या चार प्रकार के दानों में से किसी भी प्रकार के दान में उसकी गिननी की जासकती है ? कैसा घोर पतन है ! जैन धर्म के अनुसार यह अंधेर नहीं है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्य का बंध किसी दूसरे ही व्यक्ति के साथ होजावे। पूजन में परमात्मा के गुणों के स्मरण से जो पवित्रता आती है और पापों से रक्षा होती है उसका लाभ उसीको हो सकता है जो पूजन के द्वारा उनके गुणों का स्मरण करता है। किन्तु फिर भी कितना जबरदस्त मिथ्यात्व फैला हुआ है कि चाहे उनके गुणों का, समता और पूर्ण अनुराग सहित, चिंतवन ५ मिनट के लिये भी न करते हों तो भी हमारा विश्वास यही है कि केवल भक्तिपूर्वक पूजा की सामग्री भेजदेने मात्र से ही हमारे पुण्य बंध होजावेगा। वास्तव में देखाजावे तो उसको अर्हंत तो खाते नहीं हैं इसलिये उसका उपयोग आपके कथनानुसार मान भी लिया जावे तो पूजा में मन को एकाग्र करने का ही होसकता है तथा जो शुभ कर्मों का बंध और पूर्व कर्मों की निर्जरा इस प्रकार होती है वह एकाग्रता के साथ उनके गुणों के चिंतवन से उत्पन्न हुए शुद्ध भावों

से ही होती है, अकेला द्रव्य जो हम सब पूजा के लिये मंदिरों में भेजते हैं और जो रुपया मंदिरों के अनावश्यक निर्माण व सजावट आदि में व्यय करते हैं वह कुछ भी कार्य कारी नहीं होसकता। इसकी अपेक्षा, जो लाखों रुपया, मन्दिरों की पूजा में व्यय किया जाता है और प्रतिष्ठाओं में, केसरियानाथ जी के केसर चढ़ाने में*तथा उन वीतराग मूर्तियों को आंगी और जेवर आदि से सजाने में, पानी की तरह बहादिया जाता है वही यदि जाति के गरीब बालकों की धार्मिक और लौकिक शिक्षा, विधवाओं की रक्षा और दूसरे लोगों में जैनधर्म की प्रभावना (सामयिक ढंगसे) करने में व्यय किया जावे तो बहुत कुछ धर्म और जाति की उन्नति होसकती है। शिक्षा ही सब से अधिक आवश्यक वस्तु है क्योंकि बिना धार्मिक तत्वों के ज्ञान के, सूत्रजी 'भक्तामरजी' का पाठ और पूजा आदि सब धार्मिक क्रियाएँ केवल अंध-

---

*केसरियानाथजी पर केसर चढ़ाने में जो रुपया प्रति वर्ष स्वाहा किया जाता है उसका यदि सदुपयोग किया जावे तो उससे निस्संदेह सैंकड़ों विद्यार्थी जैनधर्म की शिक्षा पाकर जैनधर्म की उन्नति में हाथ बंटा सकते हैं। किन्तु यह तभी संभव हो सकता है जब हम अपने ज्ञानरूपी नेत्र पर बंधी हुई अंधविश्वास की पट्टी को हटाकर देखना सीखें।

श्रद्धा से और बिना उनका मतलब समझे हुए ही की जाती हैं। ऐसी अंध-श्रद्धा से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती देखी गई है क्योंकि लोग धर्म के असली तत्वों को न समझ सकने से धर्म के नाम पर बड़े २ अनर्थ कर डालते हैं। अतः अंध श्रद्धा और अज्ञान को मिटाने के लिये जितना होसके उतना ही उद्योग और रुपया व्यय करना चाहिए तथा ऐसी कोई भी क्रियाएँ और आडम्बर-पूर्ण-कार्यों का रिवाज़ समाज में प्रचलित न होने देना चाहिए, जिनके कारण मिथ्यात्व की वृद्धि हो; क्योंकि यद्यपि यह ठीक है कि हम मनुष्यों को ज्ञानवान बनाने का प्रयत्न करें किन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि किसी भी कार्य का सीदासादा रूप न रख कर उसको इतना चक्करदार बनादें कि लोग उसके असली तत्व को भी समझने में असमर्थ होजावें।

अब उन जैन विद्वानों से जो पुरानी लकीर को पीटते रहने में ही धर्म समझते रहते हैं और जिनको प्रत्येक नवीन बात में अधर्म की बू आती है, हमारा निवेदन है कि महानु भावो! व्यवहार धर्म की क्रियाओं में देश काल, भाव की परिस्थिति के अनुसार हमेशा से परिवर्तन होता आया है और हमेशा होता रहेगा; और तो क्या, हमारे पूज्य तीर्थंकरों ने भी देश, काल, भाव की आवश्यकता का विचार करके

अपना उपदेश भिन्न २ प्रकार से दिया है जो श्री वट्टकेरस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथ मूलाचार की निम्नलिखित प्राकृत गाथा से प्रकट है:—

बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठा वणियं पुण भयवं उसहो य वीरोय ॥ ७-३२ ॥

अर्थात् अजित से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का और ऋषभदेव तथा महावीर भगवान ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है । वही आचार्य आगे लिखते हैं:—आचक्खिदुं विभाजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि ।
एदेन कारणेन दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्वि सोधणे णिहणे तह सुट्ठ दुरणुपालेया ।
पुरिमाय पच्छिमा विहु कप्पा कप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥

जिसका आशय यह है कि पांच महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस कारण किया गया है कि इनके द्वारा सामायिक का दूसरों को उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना और अलहदा तौर से भावना में लाना सुगम होजाता है । आदि तीर्थ में शिष्य अत्यंत सरल होने से मुश्किल से शुद्ध किये जाते हैं, अंतिम तीर्थ में अत्यंत वक्र होने से कठिनाई से निर्वाह करते हैं; साथही इन दोनों समयों के शिष्य योग्य अयोग्य को नहीं जानते इस लिये आदि और अंत के तीर्थ में छेदोपस्थापना (पंच महाव्रत)

के उपदेशकी आवश्यकता हुई।

इससे प्रकट है कि प्रत्येक जैन तीर्थंकर ने अपने २ समय की आवश्यकता के अनुसार, उस समय के मनुष्यों (उपदेश-पात्रों) की योग्यता का विचार करके उसके उपयोगी वैसाही उपदेश तथा व्रतनियमादि का विधान किया है, परन्तु वह उपदेश भिन्न २ प्रकार का होते हुये भी उद्देश्य सब का वही एक 'आत्मा से कर्म मल को दूर करके उसे शुद्ध और सुखी बनाना' ही था। भगवान महावीर के बाद के आचार्यों को भी अपने अपने समय की आवश्यकता के अनुसार धर्म की क्रियाओं में परिवर्तन करना पड़ा है। श्रावक के मूलगुणों को ही लीजिये, जहां स्वामी समंतभद्र ने अपने रत्नकरंडश्रावकाचार में मद्य, मांस और मधु के त्याग और पंच अणुव्रत रूप में अष्ट मूल गुणों का विधान किया है वहां दूसरे आचार्यों ने मद्य, मांस मधु और पंच उदंबर फलों के ही त्याग को अष्ट मूलगुण मान लिया है। इस प्रकार और भी कई बातों में समयानुसार परिवर्तन होता रहा है जिसका अब तक के, प्रत्येक समय के प्रसिद्ध २ आचार्यों के ग्रंथों के देखने से अच्छी तरह दिग्दर्शन होसकता है।*खेद है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के अटल नियम

* परिवर्तन से हमारा अभिप्राय उस परिवर्तन से है जो प्रत्येक समय में उस समय के उपदेशपात्र मनुष्यों की बुद्धि विचार, योग्यता आदि के अनुसार उस समय के लिये आवश्यक होता है तथा जैसा अनावश्यक परिवर्तन, पिछले समय

की सत्यता पर विश्वास रखने वाले हम जैनी भी आज ऐसे मूर्ख बने हुये हैं कि हम यह तक विचार करने की कोशिश नहीं करते कि धर्म जो भावरूप से अनादि और कभी नाश न न होने वाला है, पर्याय रूप से परिवर्तन शील ही है अर्थात् यद्यपि निश्चय धर्म सर्वदा वही रहता है तोभी निश्चय धर्म के मूल भाव के उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई हुई व्रत नियमादि रूप क्रियाएँ समय के अनुसार परिवर्तित होती ही रहती हैं। अतः पर्याय परिवर्तन में धर्म का नाश न समझ लेना चाहिये क्योंकि निश्चय धर्म की व्यवहारधर्मरूप पर्याय का सर्वदा एकसा रहना नितांत असंभव है। इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जिस उद्देश्य की पूर्ति उस क्रिया ने अपने समय में की हो उसी की पूर्ति उसकी नवीन पर्याय भी करने में पूर्ण समर्थ हो। किन्तु आज हमारी यह अवस्था हो गई है कि इसी परिवर्तन का अनादर करके पूजा और प्रतिष्ठाओं के नाम पर प्रति वर्ष हजारों, लाखों रुपया व्यर्थ बरबाद कर रहे हैं!

के कई आचार्य नामधारी भट्टारकों ने, करके जैन धर्म के रूप को विकृत कर दिया है वैसा परिवर्तन किसी भी काम का नहीं होता। इसीप्रकार एक बार किया हुआ आवश्यक परिवर्तन भी उस परिस्थिति के बदल जाने पर बिलकुल निरुपयोगी होकर उलटा हानिकारक बन जाता है जैसा कि मूर्तिपूजा का प्रचलित ढग।

*इसमें कोई शक नहीं कि पूजा और प्रतिष्ठा का प्रचलित ढंग भी किसी समय में उस समय के लिये आवश्यक समझ कर ही ग्रहण किया होगा परन्तु वर्तमान समय के लिये यह बिलकुल निरुपयोगी हो रहा है ऐसा मानने में किसी भी विचारशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं होनी चाहिये जब समय ने हमारी भाषा, पहनाव, रहनसहन आदि प्रत्येक कार्य को बदल दिया तो इन आवश्यक विषयों में भी परिवर्तन करने से हम इतने क्यों डरते हैं? हमें चाहिये कि प्रत्येक पुरानी क्रिया को नवीनता के सांचे में ढाल कर, सामयिक और उपयोगी बना लेवें क्योंकि यदि मूल उद्देश्य की पूर्ति

---

* प्रतिष्ठा आदि प्रभावना का अंग है और उसका उद्देश्य नाटक के ढंग पर तीर्थंकरों के जीवन चरित्र का लोगों पर प्रभाव डालना है। उस समय के मनुष्यों के जैसे विचार हों और जिस ढंग को अमल में लाने से वे प्रभावित हो सकते हों, प्रतिष्ठा आदि को भी समयानुसार वैसा ही रूप देते रहना चाहिये। जिस प्रकार न्यायशास्त्र की युक्तियों से समझने वाले पुरुष को उदाहरणों से समझाने का कोई फल नहीं होता और उदाहरणों से समझने जितनी सी ही बुद्धि रखने वाले को न्याय शास्त्र के द्वारा समझाना निरर्थक होता है उसीप्रकार, वर्तमान समय के मनुष्य जिस प्रभावना पद्धति का प्रयोग करने से प्रभावित होसकते हों उसे प्रयोग न करके, वही अपनी पुरानी लकीर पीटते रहने का परिश्रम निष्फल होगा !

में उससे कोई बाधा नहीं पड़ती तो उस परिवर्तन को किसी भी तरह बुरा नहीं कहा जासकता। याद रखिये ! संसार का यह नियम है और इतिहास इसका साक्षी है कि जो समय की आवश्यकता के अनुसार अपने ढंग को नहीं बदलते और अपनी उसी पुरानी लकीर को पीटते रहते हैं उनका अवश्य नाश हो जाता है।

... कि जैन ... ...-

धर्मानुसा... वन करना हो, उनकी पूजा है; तथा जल चंदन आदि द्रव्य और इसीतरह और भी आडम्बर जो आजकल किया जाता है वह सब इसके लिये अनावश्यक है। जिसप्रकार परिस्थिति से लाचार होकर आपने (जैनियों ने) इस आडम्बर को ग्रहण किया उसीप्रकार अब परिस्थिति बदल जाने पर उसे त्याग देने में ही बुद्धिमानी है। आप लोगों के हृदयों में यह बात बैठी हुई है कि बिना जलचंदनादि द्रव्य के सहारे पूजा होही नहीं सकती इसकारण इसमें कोई संदेह नहीं कि आप इस लेख को पढ़ कर लेखक को पूजा का विरोधी ही समझेंगे। किन्तु लेखक अपने आपको ऐसा नहीं समझता। वह अरहंतों की पूजा का पूर्ण पक्षपाती है और उसके विचार से प्रत्येक आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह नित्य अरहंतों

की पूजा किया करे। किन्तु वह पूजा ऐसी है जो बिना वि
प्रकारके जलचंदनादि द्रव्य के आडम्बर के एक गरीब से
व्यक्ति के द्वारा भी, जितना सा उसे अवकाश मिलसके उत
ही से समय में, आसानी से की जासकती है। अतःलेखक
का उद्देश्य पूजा का विरोध करने का नहीं प्रत्युत वर्तमान
समाज की प्रचलित पूजा-पद्धति में घुसी हुई बुराइयों
दिग्दर्शन कराने [illegible]
डाला गया है उन पर आप लोग भी यदि पक्षपात [illegible]
विचार करेंगे तो आपको भी विश्वास होजावेगा [illegible] कि
की पूजा के लिए द्रव्यादि आडम्बर बिलकुल [illegible] आवश्यक

यद्यपि यह लेख वर्तमान जैन समाज को लक्ष्य करके
लिखा गया है तथापि उसकी लेखन शैली इस ढंग की रखी
गई है कि अन्य धर्मावलंबी भाई भी पूजा सिद्धान्त को समझ
इससे लाभ उठा सकें तथा जैनियों की मूर्तिपूजा विषयक
उनमें गलतफहमी फैली हुई है वह दूर होजावे।

समाज हितैषी विद्वानों को चाहिये कि इस विषय में
अपनी मौन को भंग करके समाज का उपासना विषयक
दूर करने के लिए जी जान से प्रयत्नशील हो जावें।

कोटा,
ता० २१-८-१६ ई०

[illegible] भीखलाल [illegible]